SHODH SAMAGAM

ISSN : 2581-6918 (Online), 2582-1792 (PRINT)

छायावादोत्तरी साहित्य में व्यष्टि–समष्टि द्वन्द्व

दिनेश श्रीवास, (Ph.D.), हिंदी विभाग
शा. इं. व्ही. पी. जी. महाविद्यालय, कोरबा, छत्तीसगढ़, भारत

ORIGINAL ARTICLE

Corresponding Author
दिनेश श्रीवास, (Ph.D.), हिंदी विभाग
शा. इं. व्ही. पी. जी. महाविद्यालय,
कोरबा, छत्तीसगढ़, भारत

shodhsamagam1@gmail.com

Received on : 07/06/2021
Revised on : -----
Accepted on : 14/06/2021
Plagiarism : 00% on 07/06/2021

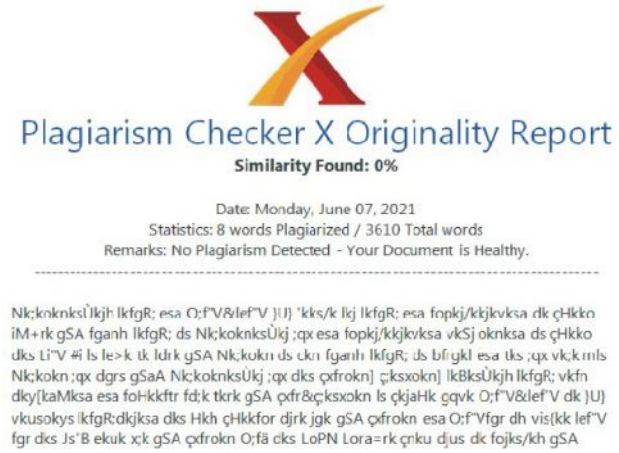
Plagiarism Checker X Originality Report
Similarity Found: 0%

Date: Monday, June 07, 2021
Statistics: 8 words Plagiarized / 3610 Total words
Remarks: No Plagiarism Detected - Your Document is Healthy.

Nk;koknksÙkjh lkfgR; esa O;f"V&lef"V }U} 'kks/k lkj lkfgR; esa fopkj/kkjkvksa dk çHkko iM+rk gSA fganh lkfgR; ds Nk;koknksÙkj ;qx esa fopkj/kkjkvksa vkSj okonksa ds çHkko dks Li"V #i ls le>k tk ldrk gSA Nk;kokn ds dkn fganh lkfgR; ds bfrgkl esa tks ;qx vk;k mls Nk;kokn ;qx dgrs gSaA Nk;koknksÙkj ;qx dks çfrokn] çksxokn] lkBksÙkjh lkfgR; vkfn dky{ktaMksa esa foHkkftr fd;k tkrk gSA çfr&içksxokn ls çkjaHk gqvk O;f"V&lef"V dk }U} vkusokys lkfgR:dkjksa dks Hkh çHkkfor djrk jgk gSA çfrokn esa O;f"Vfgr dh vis{kk lef"V fgr dks Js"B ekuk x;k gSA çfrokn O;fä cks LoPN Lora=rk çnku djus dk fojks/kh gSA

शोध सार

साहित्य में विचारधाराओं का प्रभाव पड़ता है। हिंदी साहित्य के छायावादोत्तर युग में विचारधाराओं और वादों के प्रभाव को स्पष्ट रुप से समझा जा सकता है। छायावाद के बाद हिंदी साहित्य के इतिहास में जो युग आया उसे छायावादोत्तर युग कहते हैं। छायावादोत्तर युग को प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, साठोत्तरी साहित्य आदि कालखंडों में विभाजित किया जाता है। प्रगति–प्रयोगवाद से प्रारंभ हुआ व्यष्टि–समष्टि का द्वन्द्व आनेवाले साहित्यकारों को भी प्रभावित करता रहा है। प्रगतिवाद में व्यष्टिहित की अपेक्षा समष्टि हित को श्रेष्ठ माना गया है। प्रगतिवाद व्यक्ति को स्वछंद स्वतंत्रता प्रदान करने का विरोधी है। प्रयोगवादी साहित्यकार व्यक्ति को भी महत्त्व प्रदान करता है। व्यष्टिवाद और समष्टिवाद के द्वन्द्व से व्यक्ति स्वतंत्रता के प्रति एक संकुचित दृष्टि का विकास और स्वतंत्रता में सामाजिक दायित्व का समावेश हुआ। साठोत्तरी साहित्य में व्यक्त व्यक्तिवादी मानसिकता, व्यर्थताबोथ, अजनबीपन और स्वतंत्रता की खोज इसी व्यष्टि–समष्टि द्वन्द्व का परिणाम है।

मुख्य शब्द

छायावादोत्तर, व्यष्टि, समष्टि, साठोत्तरी, स्वातंत्र्योत्तर मोहभंग, द्वन्द्व.

प्रयोगवाद के बारे में कहा जाता है कि यह प्रगतिवाद के विरोध स्वरूप प्रकट हुआ, किन्तु प्रयोगवाद छायावादी प्रवृत्तियों और हालावाद–मांसलवाद के प्रवृत्तियों के साथ प्रकट हुआ था। प्रयोगवाद ने छायावाद से व्यक्तिनिष्ठता और हालावाद–मांसलवाद से लघुवाद और भोगवाद ग्रहण किया। यद्यपि लघुवाद की पूर्ण प्रतिष्ठा नई कविता में ही हो सकी। प्रयोगवादी कवि प्रगतिशील कविता के द्वारा व्यक्त हुए जीवन–मूल्यों और सामाजिक प्रश्नों को असत्य या सत्याभास मानकर व्यक्तिगत जीवन कीं गहरी संवेदनाओं

को ही रूपायित करना चाहते थे। प्रयोगवादी कवि व्यक्ति के सत्यों को साहित्य में लाने की स्वतंत्रता की माँग करता था। वैसे इस स्वतंत्रता की खोज के कई प्रेरणा स्त्रोत थे। युद्धकालीन–मूल्यहीन परिवेश का अनुकरण, अस्तित्ववादी दर्शन और भारतीय स्वतंत्रता संग्राम की हार की थकान आदि का सम्मिलन कवियों को, नये सत्यों को अन्वेषित करने के लिए प्रेरित करता था। स्वतंत्रता के खोज की प्रेरणा केवल पश्चिमी दर्शनों के प्रभाव में आकर नहीं किया गया, अपितु इसमें भारतीय परिस्थतियों का भी योगदान था। प्रयोगवाद मानवीय स्वतंत्रता को इष्ट मानकर कविता करता था इसलिए इसने व्यक्ति स्वातंत्र्य का नारा लगाया। ''मध्यवर्ग की स्वतंत्रता के नाम परव्यक्ति की आस्थाओं–अनास्थाओं की सजग अभिव्यक्ति की गई। अकेला पीड़ित मानव और समूह मानव दोनों पर विवाद भी कम नहीं हुआ। अज्ञेय मण्डल के रचनाकारों ने व्यक्ति स्वातंत्र्य पर बल दिया। उनका तर्क था कि स्वाधीन मानव ही स्वाधीन चिंतन कर सकता है।'' इसलिए अज्ञेय ने जहाँ कविता में समूह भावना के साथ भी व्यक्ति की अस्मिता को बचाने का प्रयास किया, वहीं उपन्यासों में समूह भावना की अपेक्षा व्यक्ति स्वातंत्र्य की भावना को अधिक बल दिया। इसके पूर्व जैनेन्द्र ने व्यक्ति मानस के सत्यों को परखने का प्रयास किया था।

''हरी घास पर क्षण भर'' नामक कविता में अज्ञेय ने व्यक्ति की अस्मिता को महत्वपूर्ण माना है, जिसे आलोचक ''अहं'' की अभिव्यक्ति भी कहते हैं। ''बावरा–अहेरी'' के पश्चात् लिखी रचनाओं में अज्ञेय समाजोन्मुख हुये हैं।'' असाध्य–वीणा'' तक पहुँचते–पहुँचते समष्टि के प्रति समर्पणभाव पूरी तरह जाग उठा है।

परन्तु कथा साहित्य विशेषकर उपन्यासों में यह समर्पण स्पष्ट नहीं है। सामाजिक जीवन की जटिलता और सामाजिक मूल्यों के बीच व्यक्ति के पीसने की पीड़ा को अज्ञेय ने अपने उपन्यासो में स्पष्ट किया है। समकालीन लेखक जैनेन्द्र ने भी यही कार्य अपनी शैली में किया है।

''शेखर एक जीवनी'' नामक उपन्यास अज्ञेय की स्वतंत्रता की खोज का प्रयाण बिन्दु है। व्यक्ति की अस्मिता तथा वरण की आजादी इस स्वतंत्रता की खोज के मुख्य बिन्दु हैं। ''यह खोज अपने को सबसे काटकर नहीं की गयी है, अन्य संदर्भों में यानी मानवीय परिस्थितियों के बीच की गई है। उसकी तलाश में शेखर अनेक प्रकार के आंतरिक संघर्षों से जुझता और भीतरी तनावों से गुजरता है, किन्तु अपने निषेधात्मक रोमेंटिक विद्रोह को लेकर वह बहिर्मुखी नहीं हो पाता। फलस्वरूप सारा संघर्ष मौखिक होकर रह जाता है। क्रिया (एक्ट) में नही बदलता। वैसे शेखर के विद्रोह के पीछे आज की पीढ़ी का विद्रोही स्वर है। वह कान्वेंट से छुटकारा पाता है, घर पर आये ट्युटर को भगा देता है। टाइप न बनकर अपनी निजी संभावनाओं को अन्वेषित करना चाहता हैं और शादी में भी माँ–बाप के खिलाफ अपने निजी चुनाव का पक्षधर है।'' दूसरे भाग तक शेखर हमारे सामने आरंभ से ही स्वातंत्र्य की खोज में लगे विद्रोही के रूप में प्रस्तुत हुआ है। सर्वप्रथम वह हमारे समक्ष शिशु के रूप में आता है, जिसका व्यक्तित्व अहं, भय और सेक्स से परिचालित है। शिशु की ये तीनों वृत्तियाँ मनोविज्ञान में वर्णित हैं। लेकिन हिन्दी साहित्य में इसे प्रस्तुत करने की स्वतंत्रता अज्ञेय ने ही पाई है। साथ ही किशोरावस्था में ही शेखर की स्वातंत्र्य खोज अधिक व्यापक सामाजिक भूमि में प्रवेश करती है। देश में असहयोग आन्दोलन की लहर आने पर वह महसूस करता है कि उसका देश पराधीन है। कई आलोचक मानते हैं कि राष्ट्र और राष्ट्रीयता के बारे में शेखर के विचार सतही हैं। ये विचार क्रियात्मक नहीं हो पाते हैं। इसका कारण शेखर के मन में चलने वाला मंथन भी हो सकता है, जिसमें वह सामाजिक मूल्यों के बीच पीसते व्यक्ति की पीड़ा को समझने का प्रयास करता है और अपने कुछ विचारों को कार्यरूप में परिणत नहीं कर पाता है।

अज्ञेय के स्वातंत्र्य खोज की दूसरी कड़ी ''नदी के द्वीप'' है। मनुष्य की व्यक्तिवादिता, उसके स्वतंत्र व्यक्तित्व और स्वतंत्र निर्णय की महत्ता, उस पर समाज का सर्वाधिक अंकुश व्यक्ति के प्रेम और काम–संबंधों से सर्वाधिक अनुबंधित रहता है। प्रेम और काम के क्षेत्र में ही व्यक्तित्व रक्षा की सबलतम संभावनायें होती हैं, अतः उपन्यासकार ने अपनी कृति का वर्ण्य–विषय भी इसी क्षेत्र से संबधित चुना है। इसके साथ ही कृतिकार का एक अन्य उद्देश्य इस तथ्य को रेखांकित करना भी रहा है कि दुःख और पीड़ाओ के सहने से व्यक्तित्व में निखार आता है, किन्तु अपने इन उद्देश्यों का कृतिकार सफल सुस्पष्ट प्रतिपादन नहीं कर सका है। ''नदी के द्वीप'' यह एक प्रतीकात्मक शीर्षक है, प्रत्येक व्यक्ति अपने आप में एक द्वीप है। प्रवाह में स्थित किन्तु उससे सर्वथा पृथक् अस्तित्व रखता हुआ। प्रवाह

और उसके बीच प्रेषणीयता का कोई आधार नहीं होता, प्रवाह उसे काटता भर है और अंत में यह प्रवाह उसे ''डीपसी आफ मिजरी'' में विलीन कर देता है, इसलिए अज्ञेय ने कहा कि समाज अपने स्वस्थ विकास के लिए व्यक्तित्वों को फलने–फूलने का अवसर प्रदान करे अन्यथा रूग्ण व्यक्तित्वों का अस्तित्व उसके जीवन–प्रवाह को मलिन–दूषित ही करेगा। दुःख द्वारा व्यक्तित्व में निखार आने की ओर भी उपन्यासकार ने इंगित किया है कि दुःख द्वारा परिशोधित व्यक्ति में दूसरों को मुक्त रखने की उदारता का अभिनिवेश होता है।

''अपने–अपने अजनबी'' का मुख्य तथ्य स्वतंत्रता का वरण है। सामान्यतः वरण, चयन आदि शब्द अस्तित्ववादी दर्शन में अधिक प्रयुक्त होता है, लेकिन अज्ञेय ने इस उपन्यास में अस्तित्ववादी स्वतंत्रता के अर्थ को अतिक्रमित कर दिया है। डॉ. बच्चन सिंह इस बारे में कहते हैं– 'अपने–अपने अजनबी' अज्ञेय का तीसरा उपन्यास है जिसमें एक प्रकार की धार्मिक दृष्टि–संपन्नता दिखाई पड़ती है। पहले दोनों उपन्यासों में यौन–कल्ट की स्थापना के साथ–साथ उन्होंने मसींहाई दृष्टिकोण भी अपनाया है। ''अपने–अपने अजनबी'' इसी की फलश्रुति है। इसमें मुख्य समस्या स्वतंत्रता के वरण की है। जो संत्रास, अकेलेपन, बेगानगी, मृत्युबोध, अजनबीपन आदि से सहज ही संयुक्त हो गई है। स्वतंत्रता के अंहकार से जोड़कर अज्ञेय ने इसमें अस्तित्वादी स्वतंत्रता के मूल अर्थ को ही बदल दिया है।'' शीर्षक के अनुसार इस उपन्यास में अकेलेपन तथा अलगाव के परिवेश को जीवित किया गया है। पूरे उपन्यास पर मृत्यु की भयानक छाया है। आशंका और संशय का विद्रूप आवरण है। व्यथा–भरी पीड़ा और करूणा है। मृत्यु की भयंकरता व्यक्ति में महान परिवर्तन ला देती है। प्रियजन अजनबी हो जाते हैं और अनपहचाने अजनबी अपने आत्मीय बन जाते हैं। इस उपन्यास का मूलस्वर यही है और इसके परिवेश में एक ऐसा व्यक्तित्व उभरता है, जो अपने अस्तित्व को ही किसी भी मूल्य पर खोना नहीं चाहता, अपनी स्वतंत्रता को अक्षुण्ण बनाना चाहता है और ''मैं हूँ'' के अतिरिक्त और किसी बात को सोचना नहीं चाहता। हालाँकि मृत्यु के पराजय भरी जलन और समाज के हिंसा के समक्ष व्यथापूर्ण उद्वेलन की सीमाओं के बीच उसे बंधकर रह जाना पड़ता है और इसके साथ ही मृत्यु के प्रति दो परस्पर विरोधीभावों की ऐसी टकराहट झंकृत होती है, जिसमें पौराणिक रूपक का सा अर्थ गांभीर्य है, गुरूता है और जीवन की सशक्त मानवीय संवेदना है। इस उपन्यास का यही महत्व है।

अज्ञेय ने अपने साहित्य में व्यक्ति अस्मिता को अधिक महत्व दिया। व्यक्तित्व विकास के तत्वों को तलाशते रहे और यह मानते रहे कि व्यक्ति के विकास के लिए किसी भी सामाजिक बंधन को तोड़ा जा सकता है। साहित्य जगत ने अज्ञेय के इस व्यक्ति विकास विधायक दर्शन को सरलता से स्वीकार नहीं किया। इससे ''प्रगति–प्रयोग'' विवाद को फिर से हवा मिलने लगी। प्रमुख प्रगतिवादी आलोचक डॉ. रामविलास शर्मा ने कहा कि अज्ञेय द्वारा दिया गया व्यक्ति स्वतंत्रता का नारा जनचेतना के नाश के लिए सुनियोजित षड़यंत्र है। उनके अनुसार– ''राही नहीं राहों के अन्वेषी का नारा अज्ञेय ने सभी को सत्य से भटकाने के लिए दिया था–ताकि वे आभिजात्यवादी–पुँजीवादी मूल्यों की रक्षा कर सके। इतना ही नही व्यक्ति स्वातंर्त्य के नाम पर अज्ञेय ने व्यक्तिवाद का पोषण किया।''

मुक्तिबोध ने व्यक्ति स्वातंत्र्य के नारे को जनता के साथ दगा का नाम दिया– ''व्यक्ति स्वतंत्रता की बात तो करते हैं, लेकिन वह स्वातंत्र्य, जिस मानवीय लक्ष्य–आदर्श के लिए होता है या होना चाहिए, वह अपनी शून्य रिक्तता के धुँए में खोजता है। आज के जीवन के जो बुनियादी तथ्य हैं, उनके वास्तविक तर्कसंगत निष्कर्षों और परिणामों की ओर जाने में हमें डर मालूम होता है।'' मुक्तिबोध द्वारा लगाये गये आरोप का कारण अज्ञेय और मुक्तिबोध के साहित्य का अंतर हो सकता है। अज्ञेय व मुक्तिबोध के साहित्य का मुख्य अंतर यह है कि मुक्तिबोध समाधान की तरफ इशारा जरूर करते हैं तथा समाधान कहाँ–कहाँ से मिल सकता है, उसे इंगित भी करते हैं। अज्ञेय और मुक्तिबोध दोनों के साहित्य मानवीय अस्मिता को बचाने की चिंता है। अज्ञेय सामाजिक व्यवस्था और सामाजिक जटिलता को मानवीय स्वतंत्रता के लिए बाधक मानते हैं। मुक्तिबोध समाज रूपी भीड़ से टकराहट के बाद ही परम अभिव्यक्ति अनिवार का प्राकट्य मानते हैं। अज्ञेय को ऐसा कुछ नजर नहीं आता। दूसरी ओर जहाँ मुक्तिबोध सांस्कृतिक संकट को भाँपकर सांस्कृतिक पूर्ति की बात करते हैं, ऐसा अज्ञेय नहीं कर पाते हैं। अज्ञेय की इसी दृष्टिकोण के अभाव की ओर निर्मलवर्मा ने भी संकेत किया था– ''अज्ञेय और प्रगतिवादियों के बीच बहस व्यक्ति स्वातंर्त्य और समूहवाद के बीच सैद्धान्तिक द्वन्द, आज इतना सरलीकृत, अमूर्त और अप्रासंगिक जान पड़ता है। इस

बहस में अज्ञेय के विचारों से सहमत होते हुए भी बार–बार एक अजीब असंतोष का अनुभव होता है। मानो हम दुराग्रहों, सिद्धान्तों और अहं की कुहेलिका में फँसकर भारत के केन्द्रीय सांस्कृतिक संकट की समस्याओं से कतरा रहे हों–समस्यायें जो न सिर्फ व्यक्ति स्वातंर्त्य में सिकोड़ी जा सकती है, न समाज के जादुई मंत्र और फार्मूले से सुलझाई जा सकती है।'' इसका तात्पर्य यह है कि अज्ञेय ने जिस गंभीरता से स्वतंत्रता के प्रश्न को उठाया, उस गंभीरता से इस प्रश्न को स्थापित नहीं कर सके। यही कारण है कि ''अज्ञेय के द्वारा सम्प्रेषित व्यक्ति स्वातंर्त्य, व्यक्तिवाद जैसा प्रतीत होता है।''

कुछ अन्य आलोचकों का मत है कि अज्ञेय का जीवन दर्शन और साहित्य में नये के नाम से स्व का प्रचार अज्ञेय के आलोचना का कारण बना। डॉ. हुकुमचंद राजपाल का विचार है– ''इनका सारा काव्य अपने आत्म स्थापना के लक्ष्य की पूर्ति, हड़कंप मचा देने की चेष्टा एवं उनके भोगवादी दर्शन की अभिव्यक्ति का साधन मात्र है। एक व्यक्ति की अहंवादिता साहित्य में किस प्रकार की विकृतियों एवं दूषित प्रवृत्तियों को जन्म दे सकती है, इसका प्रत्यक्ष प्रमाण अज्ञेय का कृतित्व है।'' लेकिन अज्ञेय के अहं, जीवन दर्शन और साहित्यिक सम्प्रेष्य के साथ भी व्यक्ति स्वातंर्त्य की बात की जाए तो यह पता चलता है कि व्यक्ति अस्मिता और व्यक्ति स्वातंत्र्य के प्रश्न को अज्ञेय ने साहित्य में जोरदार तरीके से उठाया है। इन प्रश्नों ने समकालीन साहित्य में अपनी पैठ बना ली। परवर्ती अनेक लेखकों ने इस विषय पर लेखनी चलाई। समकालीन रचनाकार धर्मवीर भारती ने भी व्यष्टि और समष्टि के द्वन्द्व का चित्रण किया है। कई बार भारती सामाजिकता की ओर आकर्षित होकर व्यक्ति की सीमाओं को तोड़ने की बात सोचते हैं। उनके समक्ष यह प्रश्न उपस्थित हो जाता है– ''सामूहिकता भी केवल/साबित होगी जिस दिन छल अपनी वैयक्तिकता हार/क्या पायेंगे प्रभु/हम क्या पायेंगे।''

जैनेन्द्र के साहित्य रचना का काल सामान्यतः अज्ञेय से पूर्व प्रारंभ हो चुका था, लेकिन व्यक्ति स्वातंत्र्य के उल्लेख में दोनों को समकालीन माना जा सकता है। जैनेन्द्र ने व्यक्ति के गुम होते पहचान को साहित्य में उठाया है। व्यक्ति की पहचान कई कारणों से गुम हो रही है। जैनेन्द्र के उपन्यासों और कहानियों में इस गुम होती पहचान के कारणों को ढूँढ़ने का प्रयास किया गया है। इस बड़े व महत्वपूर्ण समस्या को सहजता और मनोवैज्ञानिक तरीके से कथा में पिरोया गया है। पाठक के मन में एक गहरा प्रभाव और प्रश्न अंकित कर दिया जाता है। लेकिन अज्ञेय ने जिस प्रकार व्यक्ति के गुम होते हुए अस्तित्व को साहित्य में लाने के लिए खलबली और हंडकम्प का सहारा लिया, ऐसा जैनेन्द्र ने नहीं किया। स्वाभाविक और सहज गति से ये प्रश्न साहित्य में आये और प्रभाव बनाये रखा। रूढ़ संस्कारों और विवाह जैसी सामाजिक समस्याओं पर प्रेमचंद ने सर्वप्रथम लेखनी चलाई। अनमेल विवाह तथा दहेज प्रथा पर कड़ा प्रहार किया। विवाह जैनेन्द्र का भी वर्ण्य विषय रहा है, परन्तु यहाँ विवाह ही एक समस्या बनकर आती है। वैवाहिक जीवन की समस्त अनिश्चितताएँ इनके साहित्य में मिलती है। इनके नारी पात्र दोराहे पर खड़े दिखते हैं। इनके नारीपात्र अपने अस्तित्व और स्वतंत्रता के लिए सामाजिक मर्यादा का अतिक्रमण नहीं कर पाती हैं, इसीलिए एक ओर समाज की मर्यादाओं को बनाये रखना चाहते हैं तो दूसरी ओर अपने अस्तित्व की पहचान भी करना चाहते हैं। इसका परिणाम यह हुआ कि इनके उपन्यासों में सामाजिक मर्यादाओं के बीच अपनी पहचान बनाने वाले पात्रों की सृष्टि हुई है, जो सामाजिक दबाओं और व्यक्तिगत आग्रहों के चलते द्वन्द्व ग्रस्त होकर आत्मयातना के शिकार हो गए हैं। वे समाज को न तोड़कर स्वयं टूटते हैं। अन्ततः पात्रों की मुक्ति कामना व्यर्थ सिद्ध होती है और जिस मुक्ति और स्वतंत्रता के लिए सम्पूर्ण सम्प्रेष्य है, वह केवल प्रश्न बनकर रह जाता है।

जैनेन्द्र के उपन्यासों में परख, त्यागपत्र, सुनीता, कल्याणी, सुखदा, विवर्त, व्यतीत आदि प्रमुख हैं। कल्याणी, सुखदा, विवर्त, व्यतीत, जयवर्धन आदि उपन्यासों में मनोवैज्ञानिकता व दार्शनिकता का आश्रय लिया गया है। फलतः उपन्यासों का सम्प्रेष्य प्रभावित हुआ है और कहीं–कहीं अस्पष्टता दिखाई देती है। पात्रों के लिए उठाया गया मुक्ति और स्वतंत्रता का प्रश्न रूढ़ संस्कारों के कारण अन्तर्विरोधी भी लगता है। धर्म और ईश्वर के प्रति उनकी व्यक्तिगत आस्था, उनकी लेखनी को भी प्रभावित करती है, इसीलिए सामाजिक मूल्यों के बीच व्यक्ति के पीसने की कथा को उजागर करने में सफल रहे हैं, किन्तु समाधान तक पहुँचने का प्रयास ही नहीं कर पाये हैं। जैनेन्द्र के दृष्टिकोण पर गाँधीवाद का भी प्रभाव है। जैनेन्द्र का विश्वास है कि पीड़ा और व्यथा ही अहं को विगलित करने में समर्थ है।

व्यथा का तीव्रतम रूप कामगत यातना में प्राप्त होता है। इसलिए जैनेन्द्र ने अपने उपन्यासों मे काम पीड़ा और समर्पण का चित्रण करके अहं का विसर्जन किया है।

इलाचन्द्र जोशी ने अपने कई उपन्यासों में सामाजिकता का सन्निवेश किया है, लेकिन ''मुक्तिपथ'' नामक उपन्यास का नायक समाजवादी विचारधारा का व्यक्ति है और नायिका का दृष्टिकोण व्यक्ति सापेक्ष है। नायिका की मान्यता है कि व्यक्ति की निजी भावनाओं को सर्वथा दबाकर सामाजिक कार्यों में सफलता नहीं मिल सकती। ''जहाज का पंछी'' नामक उपन्यास में व्यक्ति और समाज की पारस्परिक असम्बद्धता का प्रश्न उठाया गया है। जोशी ने अपने उपन्यास ''ऋतुचक्र'' में स्वतंत्रता को सीमित कर दिया है और सेक्स के लिए स्वतंत्रता की कल्पना की है। इस स्वतंत्रता के मार्ग में नैतिकता और सामाजिक मूल्य दो मुख्य बाधक हैं, इसलिए इनके पात्र (जोशी जी के पात्र) नैतिकता और सामाजिक मूल्यों का अतिक्रमण करना चाहते हैं। ''ऋतुचक्र'' नामक उपन्यास मे सेक्स को ही जीवन के चरम सत्य की उपलब्धि मान बैठे हैं। इसी प्रकार यशपाल मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित रचनाकार हैं, लेकिन उनके कई उपन्यासों में ''वरण की स्वतंत्रता'' का प्रश्न उठाया गया है। सामान्यतः ''वरण की स्वतंत्रता'' वाक्यांश अस्तित्ववाद से प्रभावित रचनाओं में पाया जाता है। यशपाल के उपन्यासों में प्रस्तुत ''वरण की स्वतंत्रता'' इससे भिन्न है। यह स्वभाविक स्वतंत्रता की माँग है। ''दादा कामरेड'' नामक उपन्यास में स्त्री को वरण की स्वतंत्रता के लिए आगे आना पड़ा है। इस उपन्यास में स्त्री के वरण की स्वतंत्रता के लिए नैतिकता को ताक पर रखा गया है। उपन्यास में शैला और हरीश का संबंध इसी प्रकार का है। इनके संबंधों को लेकर नैतिकतावादी आलोचकों ने आपत्ति की है, किन्तु उपन्यास के लक्ष्य के अनुरूप नारी को यह स्वतंत्रता मिलनी ही चाहिए।

व्यक्ति स्वातंत्र्य के उल्लेख में यह ध्यान रखना होगा कि हिन्दी साहित्य में यह चेतना दो रूपों में दृष्टिगोचर होती है। प्रथम रूप में यह रचनाओं में समग्रता और संपूर्णता के साथ उठाई गई है, अर्थात् रचनाओं का मुख्य सम्प्रेष्य व्यक्ति स्वातंत्र्य की खोज ही है। इसमें अज्ञेय, जैनेन्द्र, मोहन राकेश की रचनायें आती हैं। द्वितीय रूप में यह रचनाओं का मुख्य सम्प्रेष्य नहीं है, बल्कि किसी व्यक्ति विशेष या जीवन के किसी पक्ष विशेष के लिए स्वतंत्रता की माँग की गई है। जैसे यशपाल की कुछ रचनाओं में स्त्री के वरण की स्वतंत्रता की माँग उठाई गई है और इलाचन्द्र जोशी ने सेक्स के लिए स्वतंत्रता की मॉग की है। यद्यपि आलोचक इन रचनाओं की व्यक्ति स्वातंत्र्य की खोज को व्यक्तिवाद भी मानते रहे हैं, जैसे की अज्ञेय की रचनाओं के संबंध में कहा जाता है। लेकिन यह भी ध्यान रखना होगा कि व्यक्तिवादी अन्ततः स्वतंत्रतावादी ही होता है। वह व्यक्ति के लिए स्वतंत्रता की माँग करता है। सामाजिक बंधनों व सामाजिक मूल्यों की जटिल व्यवस्था के बीच फँसे व्यक्ति के लिए फलने–फूलने का अवसर माँगता है। व्यक्ति के अस्तित्व न बन पाने की चिंता करता है। व्यक्ति अस्मिता के प्रश्न को मानवीय विकास के कड़ी के रूपमें देखता है। कहीं–कहीं व्यक्ति स्वतंत्रता के लिए अतिवादी जरूर हो जाता है और अवसरवादी और स्वार्थी बनकर दूसरों की स्वतंत्रता और विकास में बाधक बन जाता है। यह सामाजिक अवबोध की कमी और सामाजिक दायित्व की कमी के कारण होता है। इसी कारण कोई व्यक्ति स्वातंत्र्य वादी न कहलाकर व्यक्तिवादी कहलाता है। समीक्षकों ने इस प्रकार की लगभग सभी रचनाओं को व्यक्तिवादी करार दिया है। यह बात समीक्षकों की निजी वैचारिकता पर भी आधारित हो सकती है। प्रारंभ की रचनाओं में व्यक्ति स्वातंत्र्य की चेतना संतुलित नहीं थी। प्रारंभ में इसके सही अर्थ को समझने का अभाव भी पाया जाता था। धीरे–धीरे रचनाओं की आलोचनाओं और वैचारिक द्वन्द्व के परिणाम से व्यक्ति स्वातंत्र्य के अर्थ का व्यापीकरण हुआ। छायावादीकाल में इस वैचारिकता के प्रति स्वस्थ्य दृष्टिकोण का भी अभाव मिलता है। अनेक समीक्षक व्यक्तिगत स्वतंत्रता और व्यक्ति आधरित रचनाओं को हेय की दृष्टि से देखते थे। तात्पर्य यह है कि साहित्य में इसके प्रति स्वस्थ्य दृष्टिकोण तथा इसके अर्थ का व्यापीकरण धीरे–धीरे हुआ है। किसी समाज विशेष में व्यक्ति स्वातंत्र्य की वैचारिकता में किंचित भिन्नता हो सकती है। उदाहरण के तौर भारतीय समाज और पश्चिमी जगत के व्यक्ति स्वातंत्र्य चेतना में भिन्नता इनके पृथक सामाजिक मूल्यों के कारण हो सकती है।

पचासवें और साठवें दशक में आधुनिकता की नई प्रवृत्तियॉ भी साहित्य में स्थान प्राप्त कर चुकी थी। इस समय व्यक्ति केन्द्रित उपन्यास भी पर्याप्त संख्या में लिखे गये हैं। डॉ. हुकुमचंद राजपाल ने इस प्रकार के उपन्यासों को दो वर्गों सहित कई उपवर्गों में विभाजित किया है। विभाजन के अनुसारः:

क. यौन विकृतियों में पनाह खोजने वाले उपन्यास यथा– बेघर (ममता कालिया), सूरजमुखी अंधेरे के (कृष्णा सोबती),

ख. दी हुई मानव स्थितियों में मिसफिट व्यक्तियों को चित्रित करने वाले उपन्यास यथा– रूकोगी नहीं राधिका (उषा प्रियवंदा), आपका बंटी (मन्नू भण्डारी),

ग. व्यवस्था की घुटन को अपनी नियति मानने या उनके विरूद्ध विद्रोह करने वाले यथा– यह पथ बंधुथा (नरेश मेहता)।

कुछ अन्य विद्वान अंतर्मुखी वैयक्तिकता का चित्रण करने वाले उपन्यासों को निम्नलिखित वर्गों में बांटते हैं:

क. सेक्स के इर्द–गिर्द घूमती औपन्यासिक संवेदना–नदी के द्वीप (अज्ञेय), मछली भरी हुई (राजकमल), एक पति के नोट्स (महेन्द्र भल्ला), जिन्दगी और जिन्दगी (मोहन सहगल) आदि,

ख. आत्म निर्वासन, अजनबीपन और अकेलापन के अनुभवों की औपन्यासिक परिणति–पचपन खंभें लाल दीवारें (उषा प्रियबंदा) अंधेरे बंद कमरें (मोहन राकेश), अपने अपने अजनबी (अज्ञेय), वेदिन (निर्मल वर्मा) यह पथ बंधुथा (नरेश मेहता) आदि।

इन व्यक्ति केंद्रित सभी उपन्यासों में क्षण को भोगने से लेकर व्यक्तित्व तलाश की महत्वकांक्षा का चित्रण किया गया है। इन उपन्यासों का व्यक्ति अकेला, उबाहुआ, संत्रस्त, व्यर्थताबोध से पीड़ित, अजनबीपन से घिरा हुआ, थकाहारा ऐसा व्यक्ति है जिसको कोई भविष्य नहीं दिखाई देता है। न कहीं कोई आशा, उत्साह की कोई किरण दिखाई पड़ती है। इनमें निर्मल वर्मा के उपन्यास और भी विशिष्ट हैं। ''वेदिन'' (निर्मल वर्मा) का परिवेश विदेशी है। इसमें द्वितीय विश्व युद्धोत्तरकाल की योरोपीय युवापीढ़ी के अर्थहीन यौन संबंधों, अकेलापन, ऊब, अनास्था, भय, कुण्ठा आदि का चित्रण हुआ है। मोहन राकेश के उपन्यासों में मध्यवर्गीय जीवन की त्रासदी चित्रित है और राजकमल चौधरी के ''मरी हुई मछली'' में अर्थाभाव झेलती हुई स्त्री की देहगाथा का चित्रण हुआ है। इन उपन्यासों से भिन्न ''आपका बंटी'' में उच्च मध्यवर्गीय जीवन का चित्रण हुआ है, यहॉ आधुनिकता फैशन के रूप में नहीं, एक वास्तविकता के रूप में चित्रित है। इस उपन्यास में बेटे की वेदना के माध्यम से एक परित्यक्ता और पुनर्विवाहिता माँ की मानसिक यातनाओं का चित्रण सशक्त रूप में किया गया है। इस रचना में नारी स्वतंत्रता की वैचारिकता कहीं–कहीं उभरती है तो ''मरी हुई मछली'' में नारी स्वतंत्रता को विकल्प के रूप में ढूँढ़ा गया है।

निष्कर्ष

प्रगतिवाद–प्रयोगवाद युग से प्रारंभ हुआ, व्यष्टि–समष्टि द्वन्द्व केवल इस युग तक सीमित नहीं था। व्यक्ति स्वतंत्रता में सामाजिक दायित्व को सम्मिलित कर कई साहित्यकारों ने अपनी रचनाओं में इसको प्रस्तुत किया। अज्ञेय के 'बावरा अहेरी' कविता के बाद की कविताओं में वे समाजोन्मुख हुए हैं। 'असाध्यवीणा' कविता तक पहुंचते–पहुंचते उनका समर्पण भाव जाग गया था।

साठोत्तरी साहित्य में पुनः व्यष्टि–समष्टि भाव पृथक रूप में हमें दिखाई देता है। इस भाव में स्वातंत्र्योत्तर मोहभंग के वातावरण का भी अभिनिवेश मिलता है। नेहरु की राजनीति और गांधीजी के रामराज्य ने जनता को निराश किया। संवेदनशील रचनाकार मोहभंग की पीड़ा से कराहने लगा, इसलिए साहित्य में व्यक्ति अकेला, ऊबा हुआ, संन्त्रस्त, व्यर्थताबोध से पीडित और अजनबीपन से घिरा हुआ दिखाई पड़ता है, जिसका कोई भविष्य नहीं है। इस प्रकार छायावादोत्तर युग में व्यष्टि–समष्टि का द्वन्द्व जारी रहा।

संदर्भ सूची

1. अश्क, उपेन्द्रनाथ, ''हिन्दी कहानीः एक अंतरंग परिचय,'' नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथमसंस्करण 1967।
2. अग्रवाल, प्रतिभा, ''भारतीय साहित्य के निर्माताः मोहन राकेश,'' साहित्य अकादमी प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 1979।

3. अग्रवाल, सुषमा, ''समकालीन नाट्य साहित्य और मोहन राकेश,'' अनुपम प्रकाशन, जयपुर, संस्करण 1975।
4. ओझा, दशरथ, ''हिन्दी नाटक कोश,'' नेशनल पब्लिशिंगहाउस, दिल्ली, संस्करण 1975।
5. ओझा, दशरथ, ''आज के हिन्दी नाटक,'' राजपाल एण्ड संन्स, दिल्ली, संस्करण 1975।
6. कपूर, मस्तराम, ''अस्तित्ववाद से गॉधीवाद तक,'' वीणा प्रकाशन, नईदिल्ली 2001।
7. कपूर, श्यामचन्द्र, ''हिन्दी साहित्य का इतिहास,'' हिन्दी ग्रंथ अकादमी, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1991।
8. कुमार, रीता, ''स्वातंर्त्योत्तर हिन्दी नाटक और मोहन राकेश,'' विजय प्रकाशन, मुंबई, संस्करण 1998।
9. कुरूप, के.वी. नारायण, ''साठोत्तर हिन्दी नाटक और भाषा,'' लोकभारती प्रकाशन, नईदिल्ली, संस्करण 2009।
10. कृष्ण, राजेन्द्र, ''हिन्दी नाटक में नायक का स्वरूप,'' भारतीय ग्रंथ अकादमी, दिल्ली, संस्करण 1994।
11. गुप्त, अवधेशचन्द्र, ''स्वातंर्त्योत्तर हिन्दी नाटक में विचारतत्व,'' भावना प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 1984।
12. गुप्त, गणपतिचन्द्र, ''हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास,'' लोकभारती प्रकाशन, नईदिल्ली, संस्करण 2008।
13. गुप्त, लालचंद, ''अस्तित्ववादः साहित्यिक और सांस्कृतिक भूमिका,'' अध्ययन केन्द्र प्रकाशन, लखनउ, संस्करण 1979।
14. गुप्त, सोमनाथ, ''पारसी थियेटरः उद्‌भव और विकास,'' लोकभारती प्रकाशन, नईदिल्ली, संस्करण 2009।
15. चतुर्वेदी, रामस्वरूप, ''हिन्दी गद्यः विन्यास और विकास,'' लोकभारती प्रकाशन, नईदिल्ली, संस्करण 2008।
16. चतुर्वेदी, रामस्वरूप, ''हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास,'' लोकभारती प्रकाशन, नईदिल्ली, संस्करण 2008।
17. चातक, गोविन्द, ''आधुनिक नाटकों का मसीहाः मोहन राकेश,'' इन्द्रप्रस्थ प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 1975।
18. चातक, गोविन्द, ''आधुनिक हिन्दी नाटक का अग्रदूतः मोहन राकेश,'' राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, प्रथमसंस्करण 2003।
19. चौहान, कर्ण सिंह, ''साहित्य के बुनियादी सरोकार,'' वाणी प्रकाशन, नईदिल्ली, संस्करण 1954।
20. चौहान, शिवदान सिंह, ''हिन्दी गद्य साहित्य,'' राजकमल प्रकाशन, बम्बई, द्वितीय संस्करण 1954।

****